कुँवर नारायण

उत्तर-समय में शब्दों की गवाही

पंकज कुमार बोस

व्यर्थ है / बहुत दूर तक उसे सोचना
जो आसमान में एक बिंदु भर जगह / और पल भर समय में संचित है।
मैं तब की बात कर रहा हूँ / जब तुम रुकोगे कुछ देर
अभी बहुत उतावली में हो / कहीं और जाने की / कुछ और पाने की
कुछ से कुछ और हो जाने की ...
बात तब की है / जब केवल मेरे शब्द होंगे मेरी जगह
तब उस विकलता को समझोगे / जो सब कुछ— शब्द तक—
यहीं छोड़ जाने में होती है।
('शब्द तक' : कुँवर नारायण के अंतिम कविता-संग्रह की पहली कविता)

आधुनिक हिंदी कविता के उत्कर्ष के पर्याय कुँवर नारायण (1927-2017) से पहली बार तब मिला जब जीवन में असह्य निराशाओं का दौर था। अँधियारा बढ़ता जा रहा था। उनसे पहली बार मिलना सैकड़ों काली अँधेरी रातों के बाद सहसा एक सूर्य के आँगन में आने-सा था। आँगन खुला था और चारों ओर रोशनी के झरने ही झरने! मैं और हमारे कुछ साथी उनके अंतिम कुछ वर्षों में उनकी पुस्तकों के प्रकाशन की तैयारी में उनका हाथ बँटाते। उनकी पाण्डुलिपियाँ तैयार करते और एक बेहद आत्मीय वातावरण में उनसे संवाद और विचार-विमर्श करते। उनके पास बैठ कर और उनके साथ कुछ करते हुए हमेशा ही एक पुनीत कर्तव्य में संलग्न होने का बोध होता, जीवन की सार्थकता की अनुभूति होती।

कुँवरजी जब अपने कमरे से निकलते हुए बैठक की ओर आते तो हमें उनके पैरों की नहीं, बल्कि छड़ी की आहट सुनाई पड़ती। छड़ी की हल्की ठक-ठक आवाज़ पगध्वनि के संगीत की तरह धीरे-धीरे पूरे घर में गूँज उठती और हवा में तैरते हुए हमारे कानों तक आती। इस आवाज़ और संगीत

के हम इतने आदी हो चुके कि इसके बिना उनके आने की कल्पना ही नहीं कर सकते। इस पगध्वनि को सुनते ही हम आश्वस्त होने लगते, उम्मीदों से भर जाते। हमारे चेहरे पर आशाएँ और होठों पर मुस्कानें तैर जातीं। हसरत भरी निगाहों से हम उस ओर देखने लगते। उन्हें सहारा देकर लाया जाता, लेकिन वे ऐसे आते जैसे परिवार के किसी बुज़ुर्ग के साथ कोई विनयी बालक आ रहा हो। एक सम्पूर्ण विश्वास के साथ अपनी छड़ी को थामे, मानो वह उनका पिता हो और वे एक बालक जो पहली बार घर से बाहर कहीं बहुत दूर निकल रहा है— अपनी लाल-लाल कोमल अँगुलियों से पिता की अनुभवी और खुरदरी अँगुलियों को थामे हुए ... जब-जब उनके आने के उन सुखद दृश्यों की याद आती है तो इसी रूप में आती है। वे आते... अपने पिता के साथ एक उत्साही बालक की तरह आते और आ कर हम बालकों के साथ बैठ कर बातें करते... ।

यूँ तो कमरे से बैठक का यह फ़ासला बहुत ही कम होता लेकिन महज़ इतनी दूरी पार करने में उन्हें अच्छा समय लगता। वे विज्ञान के विद्यार्थी रहे और विज्ञान को भरपूर जिया भी, और शायद इसलिए समय, गति और दूरी को लेकर हमेशा चौकन्ने रहे। दो कमरों की दूरी पार करते हुए वे एक ही साथ दो समय और दो स्पेस को पार करते। यों टाइम और स्पेस के बीच वे हमेशा आवाजाही करते। उनके लिए कमरे से बैठक में आने का मतलब होता एक समय और स्पेस से दूसरे समय और स्पेस में आना, एक दुनिया से निकलकर दूसरी दुनिया में आना। अकसर बातचीत में जब हम उनके किन्हीं समकालीन यश:काय रचनाकार के बारे में पूछते तो वे कहते कि 'मेरे लिए तो ये सब मानो कल की ही बातें हैं।' मैं और हमारे कुछ साथी अकसर इस बात पर सहमत होते कि 'वे तो हमेशा सर्कुलर टाइम में जीते हैं।' अपनी रचनाओं में भी उन्होंने बराबर इसके भरपूर संकेत दिये हैं। वे एक संसार में जीते हैं,फिर वहाँ से दूसरे संसार की यात्रा करते हैं और फिर लौट आते हैं। बात ज़रा दार्शनिक लगती है लेकिन उनके लिए बहुत ही व्यावहारिक। उनका दृढ़ विश्वास है कि हमारे सभी ज्ञान, दर्शन और शास्त्रों का उत्स हमारी इस दुनिया का भरा-पूरा जीवन ही है। उनके लिए जीवन ही साधन है, और साध्य भी। एक उत्कट जिजीविषा के वशीभूत होकर वे जीवन की ही खोज और पुनर्खोज करना चाहते हैं। लगातार। इसलिए वे बराबर लौटना चाहते हैं। 'लौटना' उनकी जीवन-दृष्टि का और उनकी रचना-यात्रा का एक स्थायी भाव रहा है। बीज शब्द। उनकी कविताओं में सर्वाधिक सारगर्भित और साभिप्राय क्रिया है 'लौटना'। कोई देख सकता है कि *चक्रव्यूह* से लेकर *कुमारजीव* तक इस क्रिया की बहुआयामी यात्राओं के दिशा संकेत बिखरे पड़े हैं। इस पूरे संदर्भ में लगभग एक घोषणा-पत्र की तरह लिखी हुई उनकी पंक्ति कानों में हमेशा गूँजती रहती है : 'अबकी अगर लौटा तो / बृहत्तर लौटूँगा।'

वे जीवन की ही खोज और पुनर्खोज करना चाहते हैं। लगातार। इसलिए वे बराबर लौटना चाहते हैं। 'लौटना' उनकी जीवन-दृष्टि का और उनकी रचना-यात्रा का एक स्थायी भाव रहा है। बीज शब्द। उनकी कविताओं में सर्वाधिक सारगर्भित और साभिप्राय क्रिया है 'लौटना'। कोई देख सकता है कि *चक्रव्यूह* से लेकर *कुमारजीव* तक इस क्रिया की बहुआयामी यात्राओं के दिशा संकेत बिखरे पड़े हैं। इस पूरे संदर्भ में लगभग एक घोषणा-पत्र की तरह लिखी हुई उनकी पंक्ति कानों में हमेशा गूँजती रहती है : 'अबकी अगर लौटा तो / बृहत्तर लौटूँगा।'

I

कमोबेश दो शताब्दियों की सीमा-रेखा को छूने वाली कुँवर नारायण की रचना-यात्रा छह दशकों से भी अधिक समय तक व्याप्त रही है। अपने सारभूत रूप में उनकी कविताएँ जीवन और मृत्यु से जुड़ी चिंताओं, राजनीति और संस्कृति की विसंगतियों, मानवीयता और नैतिकता की समयानुकूल अनिवार्यताओं, मिथक और इतिहास की सर्जनात्मक सम्भावनाओं, व्यक्ति-परिवार-समाज के बीच सापेक्षिक संबंधों को लेकर लगातार मुखर रही हैं और जहाँ कहीं भी ज़रूरत हुई, उन्हें प्रश्नांकित करती रही हैं।

उनकी कविताओं और चिंतन में एक बड़ी मानवीय दुनिया के निर्माण के लिए संकल्पित सांस्कृतिक चेतना और सह-अस्तित्व की भावना भी है जिसे अभी तक बहुत कम लक्षित किया गया है। इसके अलावा 'समय' की अवधारणा का व्यावहारिक विनियोग और उसके सतत जैविक बोध को लेकर उनके रचना-संसार में जो चिंतन व्यक्त किया है, वह उन्हें वैश्विक स्तर के कवि-चिंतकों की अगली पंक्ति में खड़ा कर देता है। इन अर्थों में वे हमारे समय के सम्भवत: अकेले ऐसे कवि रहे जिन्होंने हिंदी रचनाशीलता में भारतीय साहित्य की श्रेष्ठ परम्पराओं का समन्वय किया और उसे वैश्विक मानकों के अनुरूप बनाया।

कुँवर नारायण ने अपनी प्रत्येक रचना में जीवन को एक विशाल कार्निवाल के रूप में देखा है और उसमें उत्सवधर्मिता के साथ भागीदारी की है। काव्य-विषय कोई भी हो, वे उसमें हमेशा जीवन या जिजीविषा के किसी न किसी घटक को लक्षित कर लेते हैं। अकसर उनकी कविता पढ़ते हुए लगता है कि शायद हमारे हाथ कोई ताज़ा पौधा लग गया है जिसे अभी-अभी कच्ची मिट्टी से उखाड़ा गया है और जिसकी जड़ें अभी भी माटी के सोंधेपन से महमहा रही हैं। वे अपने केंद्रीय अनुभव या घटना-प्रसंगों की बुनियाद से इतने सघन रूप से जुड़े होते हैं कि केवल कवि के अनुभव न होकर हमारे और आपके अनुभव बन जाते हैं, हमारी और आपकी दुनिया में रच-बस जाते हैं।

एक कवि द्वारा उसके रचे इस संसार में पाठक के रूप में अबाध विचरण करने के लिए आप स्वतंत्र होते हैं। उनके रचना-संसार की यात्रा आपके लिए एक रोमांचक और यादगार अनुभव बन जाती है क्योंकि इस प्रक्रिया में हर मोड़ पर कुछ न कुछ नया और आश्चर्यजनक होता है। तब आप केवल एक पाठक नहीं रह जाते, धीरे-धीरे कविता के महावन में विचरने वाले एक यायावर बन जाते हैं। यों कुँवर नारायण की कविताएँ इस महायात्रा में आपका पाथेय होती हैं और मनुष्यता के संकट या दुविधा के किसी भी मोड़ पर गाढ़े के साथी की तरह काम आती हैं। कुँवर नारायण जीवन के सम्मुख विनम्रता से खड़े रहने वाले और उसका सामना करने वाले कवि हैं। बानगी के तौर पर उनके अंतिम संग्रह *सब इतना असमाप्त* में संकलित एक छोटी कविता : 'तुम जो लिख रहे हो / क्या उसे जीकर दिखा सकते हो— ज़िंदगी ने पूछा / मैं जो जी रहा हूँ / उसे ही लिख रहा हूँ—मैंने कहा / ज़िंदगी को यक़ीन न हुआ / वह सब इतना बेमानी हो सकता है / जो इतना ठोस लगता / इतना आसमानी हो सकता है।'

II

हिंदी में कुछ लोगों की धारणा है कि कुँवर नारायण एक 'ओवररेटेड' कवि रहे हैं। ऐसे लोगों में कुछ वरिष्ठ रचनाकार और आलोचक-पाठक भी शामिल हैं। इस धारणा के पीछे कम-से-कम दो बातें हैं। ऐसे लोगों को कुँवर नारायण की उस कवि-छवि से एतराज है जिसमें उनकी मनुष्य छवि भी घुलमिल कर एकाकार है। यानी एक व्यक्ति और एक कवि के रूप में कुँवर नारायण में कोई अंतर या फाँक नहीं है। विचार और रचना, चिंतन और व्यवहार, दैनिक चर्या और लेखन उनके लिए अलग-अलग चीज़ें नहीं हैं। इसलिए अपनी बहुत-सी कविताओं में राजनीतिक स्वर रखते हुए भी वे कवि या व्यक्ति

के रूप में कभी भी पूर्णत: राजनीतिक नहीं हो पाते। वे हमेशा 'ग़ैर-राजनीतिक' रहते हैं। इसके बाद भी एक श्रेष्ठ कवि में रूप में अपनी जगह बनाए रखते हैं। उक्त धारणा वाले लोगों को कुँवर नारायण से पहली समस्या यही है। चूँकि वे किसी भी पंक्ति में फ़िट नहीं हो पाते इसलिए उनकी दृष्टि में वे अनुकूल नहीं है। उनमें साहित्य या राजनीति की किसी दौड़ में शामिल होने की बेचैनी नहीं है। वे 'लिस्टों से बाहर' कविता में लिखते हैं : 'कुछ लोग किसी भी लिस्ट में / कभी भी फ़िट नहीं बैठते / उन्हें किसी भी लिस्ट में रखते ही / लिस्ट का संतुलन बिगड़ जाता है।' यह कविता उनके व्यक्तित्व के बारे में जितनी सटीक है उतनी ही उनके कवि के बारे में भी।

कुँवर नारायण को 'ओवररेटेड' कहने के पीछे जो दूसरा तर्क है वह है उन पर लिखित आलोचनात्मक साहित्य। कुँवर नारायण के साहित्यिक अवदान पर लेखों, पुस्तकों, शोध-ग्रंथों और सम्पादित पुस्तकों के रूप में अब तक जो विपुल कार्य हुआ है उनमें बहुधा आलोचना कम और प्रशंसा अधिक है। ऐसा तमाम प्रशंसात्मक लेखन भी उन्हें 'ओवररेटेड' समझने का भ्रम पैदा करता है। इस संदर्भ में एक ऐसे लेख का ज़िक्र ज़रूरी है जिसमें कुँवर नारायण की, विशेषत: उनके खण्डकाव्य *आत्मजयी* की कटु आलोचना की गयी है। एक तरह से यह कुँवर नारायण को 'अंडररेटेड' करने की भी कोशिश है। श्रीकांत वर्मा ने इलाहाबाद की 'विवेचना' गोष्ठी में *आत्मजयी* की तीखी समीक्षा करते हुए उसमें उठाए गये मुद्दों का खण्डन किया है। श्रीकांत वर्मा का मूल समीक्षा-निबंध 'नचिकेता के बावजूद' शीर्षक से सितम्बर' 65 की *माध्यम* पत्रिका में और बाद में 'नचिकेता की वापसी' शीर्षक से उनके निबंध संग्रह *जिरह* (1973) में प्रकाशित हुआ। यहाँ श्रीकांत वर्मा की कुछ महत्त्वपूर्ण स्थापनाओं से संवाद करते हुए हम यह बताने की कोशिश करेंगे कि साहित्य में सतही तौर पर 'अंडररेटेड' या 'ओवररेटेड' का पैमाना बनाने से बेहतर होगा कि हम वाद-विवाद-संवाद के ज़रिये किसी कवि के मूल्यांकन का रास्ता अपनाएँ। दरअसल किसी बड़े रचनाकार की स्मृति के निमित्त उसका मूल्यांकन करते हुए यह हमारी नैतिक ज़िम्मेदारी भी होनी चाहिए।

आत्मजयी पर समीक्षा आरम्भ करते हुए समीक्षक श्रीकांत वर्मा ने 'चक्रव्यूह' की 'आशय' शीर्षक कविता के मूल मंतव्यों को कुँवर नारायण की कवि-दृष्टि के लिए अस्वीकारते हुए तमाम दैहिक और ऐंद्रिक आशयों-प्रसंगों से इतर कविताओं को ही कविता माना है। इस तर्क से *आत्मजयी* कुँवर नारायण की 'अपनी कविता' है और नचिकेता 'अपना प्रतीक'। श्रीकांत वर्मा ने औपनिषदिक पात्र नचिकेता और कुँवर नारायण के नचिकेता के बीच परिस्थितिगत भिन्नता को लक्षित करते हुए आधुनिक दृष्टि से नचिकेता की प्रस्तुति में असंगति बतलाई है। उन्हें कुँवर नारायण में एक बड़ा अंतर्विरोध लगता है और यही अंतर्विरोध 'नचिकेता के कुँवर नारायण द्वारा निरूपित चरित्र में शुरू से ही विसंगति का कारण है।'

कुँवर नारायण उपनिषद् में व्यक्त भारतीय या हिंदू दर्शन की चिंताओं को *आत्मजयी* में प्रासंगिक बना कर उठाते हैं, जबकि समीक्षक के लिए ये सारी चिंताएँ अस्तित्ववादी दर्शन की हैं। अस्तित्ववादी दर्शन की विशेषताओं के अनुकूल वह *आत्मजयी* की व्याख्या कर पाता है। जबकि स्वयं कवि के लिए वे अपनी चिंताओं से उद्भूत और औपनिषदिक दर्शन से समर्थित हैं। समीक्षक जीवन, मृत्यु, अस्तित्वबोध, आत्मबोध, नैराश्य, मुक्ति आदि स्थितियों की अस्तित्ववादी व्याख्या करते हुए कुँवर नारायण के औपनिषदिक चिंतन पर कई प्रश्नचिह्न लगाता है। ज़ाहिर है कि इससे कवि के रूप में कुँवर नारायण की चिर-परिचित विशेषता 'बौद्धिकता' या 'वैचारिकता' को ही प्रश्नांकित किया गया है।

श्रीकांत वर्मा ने अपनी अगली स्थापना के तौर पर कुँवर नारायण की आस्था पर प्रश्न उठाया है। यह सच है कि कुँवर नारायण आस्था के कवि हैं लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वे कट्टर हिंदूवादी कवि हैं। आस्था उनके लिए एक जीवन-मूल्य है। इस दृष्टि से *आत्मजयी* जीवन-दृष्टि का काव्य है।

केवल कवि-दृष्टि का नहीं। *तीसरा सप्तक* के अपने 'वक्तव्य' में कुँवर नारायण ने जीवन को 'कार्निवाल' और कवि को 'बहुरूपिये' की संज्ञा दी है 'जिसका हर मनोरंजक रूप किसी न किसी सतह पर जीवन की एक अनुभूत व्याख्या है।' स्पष्ट है कि जीवन के व्यापक परिप्रेक्ष्य में कवि का भी कोई एक (अलग-अलग समयों और भूमिकाओं में) परिप्रेक्ष्य होता है। *आत्मजयी* में जीवन-दृष्टि या जीवन-मूल्यों के प्रति आस्था की बात करते हुए कवि कवि-दृष्टि अर्जित करता है। चूँकि वह विचारशील है, इसलिए अर्जन की प्रक्रिया में एक स्वाभाविक प्रश्नाकुलता है। ऐसे में श्रीकांत वर्मा द्वारा प्रस्तुत यह सामान्य सिद्धांत *आत्मजयी* के संदर्भ में ग़लत ठहरता है कि 'कवि अपनी कविता की खोज करता हुआ अपनी आस्था अर्जित करता है; आस्था की खोज करता हुआ काव्य अर्जित नहीं करता।' समीक्षक के अनुसार पहली आदर्श स्थिति है जबकि कुँवर नारायण के यहाँ दूसरी स्थिति है। ज़ाहिर है कि कवि की मूलभूत जीवन-दृष्टि और समीक्षक की मूलभूत जीवन-दृष्टि में विपर्यय है, इसलिए समीक्षक की स्थापनाओं से समीक्षक के मंतव्यों को समझने में जितनी मदद मिलती है, कृति के मूल्यांकन में उतनी ही निराशा हाथ लगती है।

अस्तित्ववादी दर्शन से संबंधित श्रीकांत वर्मा का अंतिम निष्कर्ष *आत्मजयी* के नचिकेता को 'मनुष्य के पतन का साक्षी' कहता है, जबकि औपनिषदिक नचिकेता ऐसा नहीं है। 'मनुष्य के पतन' से समीक्षक का अभिप्राय विश्व-युद्धों के बाद उपजे अस्तित्व संबंधी संकटों से है, जिनमें यूरोप अग्रणी रहा है। केवल इस तथ्य के आधार पर यह कहना कि यूरोप के व्यक्ति ने ही पतन देखा है, पर्याप्त नहीं है। चूँकि *आत्मजयी* में मृत्यु अंतिम सत्य या परिणति नहीं है, इसलिए मृत्यु मनुष्य का पतन भी नहीं है। समीक्षक मृत्यु संबंधी निराश मन:स्थितिवाली पंक्तियाँ उद्धृत कर नचिकेता को 'मनुष्य के पतन का साक्षी' सिद्ध करना चाहता है। विश्व-युद्ध के फलस्वरूप उपजे भयावह मृत्यु-बोध के बाद आत्यंतिक रूप से मृत्यु ही 'मनुष्य के पतन' का पर्याय बन गयी थी और उसके अस्तित्व-संकट के लिए अंतिम सीमा भी। *आत्मजयी* में मृत्यु-बोध या चिंतन, अनंत यात्रा के लिए एक पाथेय की तरह है। दूसरे शब्दों में, अस्तित्ववादी दर्शन 'मृत्यु' तक आकर पूर्ण-विराम लगा देता है जबकि भारतीय दर्शन की मूल चिंता वहाँ से आरम्भ ही होती है। इस प्रकार अस्तित्ववादी दर्शन की एकांगिकता के हवाले से भारतीय दर्शन की बहुआयामिता को चुनौती देना एक बौद्धिक दुस्साहस है जिसे हम समीक्षा-निबंध में यथास्थान देख सकते हैं।

प्रसंगत: श्रीकांत वर्मा ने कुँवर नारायण के 'बौद्धिक' कवि होने-न-होने की बात उठाई है। बौद्धिक कवि होने-न-होने की बात जितनी आवश्यक है, उतना ही आवश्यक है यह जानना कि कुँवर नारायण विचारधारा विशेष के आग्रही नहीं हैं, विचारशील अवश्य हैं। *आत्मजयी* के नचिकेता की समस्या भी 'एक विचारशील व्यक्ति की समस्या' है। समीक्षक श्रीकांत वर्मा ने ऐसे विचारशील पात्र नचिकेता को 'औपनिषदिक युग का सम्भावनाहीन चरित्र' कहा है। भारत-विद्या और भारतीय चिंतन परम्परा के गम्भीर अध्येता वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'जिज्ञासा' की दार्शनिक व्याख्या करते हुए माना है कि 'हमारे साहित्य में जिज्ञासा वृत्ति का सर्वोत्तम उदाहरण नचिकेता है।' यह दो बिल्कुल विपरीत धुरी वाले मस्तिष्क के दो अलग-अलग सर्वेक्षण हैं। कहने की ज़रूरत नहीं कि *आत्मजयी* के मूल्यांकन-पुनर्मूल्यांकन के लिए किसका मत अधिक प्रासंगिक है!

वस्तुत: श्रीकांत वर्मा ने अपनी समीक्षा में अस्तित्ववादी अवधारणाओं को समूचे *आत्मजयी* पर थोपना चाहा है, जिससे स्वयं उनका कोई मुकम्मल निष्कर्ष उभरकर सामने नहीं आ पाया है। उसकी समीक्षा को एक 'सायास विध्वंसक समीक्षा' कह सकते हैं जिसमें *आत्मजयी* के परवर्ती अध्ययन-मूल्यांकन के लिए कोई सम्भावना नहीं है। एक सम्भावनाहीन समीक्षा! भाषा के बारे में कहते हुए समीक्षक ने स्वयं समीक्षा की भाषा की गरिमा का ध्यान नहीं रखा है। ऐसा लगता है कि वह विचारधारा विशेष के दबाव में बहता ही चला जा रहा है और कृति से ध्वनित होने वाले मूल्यों-प्रसंगों की

जानबूझकर उपेक्षा कर रहा है। मिथक, धर्म, विश्वास, आस्था, जीवन-मृत्यु जैसे अन्य सनातन प्रश्न और इनसे सम्बद्ध कवि-दृष्टि पर उसने कुछ नहीं कहा है। औपनिषदिक पात्र नचिकेता को 'सम्भावनाहीन चरित्र' कहते हुए वह भूल गया कि यदि भारतीय परम्परा में कवि या साहित्यकार को 'स्रष्टा' या 'प्रजापति' जैसी संज्ञाएँ दी गयी हैं, तो इसके पीछे कुछ न कुछ तर्क तो अवश्य रहा है। सामान्य मनुष्यों को जहाँ कोई सम्भावना नहीं दिखती, वहीं से वह अनंत सम्भावनाओं की खोज कर ले जाता है। इस दृष्टि से, औपनिषदिक पत्रों से सम्भावना ग्रहण करने का एक उदाहरण यदि *आत्मजयी* है तो दूसरा हजारी प्रसाद द्विवेदी का उपन्यास *अनामदास का पोथा* जिसमें उन्होंने *छांदोग्योपनिषद्* के नितांत सम्भावनाहीन पात्र रैक्व को केंद्र में रखकर एक जीवन-दर्शन ही उपस्थित कर दिया है। *कठोपनिषद्* के पात्र नचिकेता में तो फिर भी अनंत सम्भावनाएँ हैं। इन सम्भावनाओं को कवि ने अद्यतन स्वीकृति भी दी है।

यहाँ श्रीकांत वर्मा की समीक्षा पर किंचित विस्तार से चर्चा करने का हमारा स्पष्ट प्रयोजन है। आज यदि हम कुँवर नारायण के खण्डकाव्य *आत्मजयी* (जो एक कवि के रूप में उनकी प्रसिद्धि या उनके लोकप्रिय होने का बहुत बड़ा कारण रहा है) की चर्चा करना चाहें तो मूल पाठ के बाद जो आलोचनात्मक पाठ है उसका भी ध्यान रखें। *आत्मजयी* का एक आलोचनात्मक पाठ प्रभाकर श्रोत्रिय, मारियोला आफ्रीदी और कृष्णदत्त पालीवाल जैसे आलोचकों का है जो व्याख्या या विश्लेषण के ज़रिये कवि के समर्थन की दिशा में जाते हैं। दूसरा पाठ श्रीकांत वर्मा और रामस्वरूप चतुर्वेदी जैसे आलोचकों का है जिन्होंने दोष-दर्शन के ज़रिये कवि और उसके मंतव्यों का खण्डन करने की कोशिश की है। आज के आलोचकों को मूल पाठ के साथ-साथ इन दोनों सह-पाठों का सम्यक विवेचन करके ही पुनर्मूल्यांकन का कोई नया रास्ता तैयार करना पड़ेगा। नैतिक ज़िम्मेदारी यह है और इसके लिए 'ओवररेटेड' और 'अंडररेटेड' जैसे संकीर्ण और पूर्वाग्रही वर्गीकरण हमारे किसी काम नहीं आ सकते।

विश्व-युद्ध के फलस्वरूप उपजे भयावह मृत्यु-बोध के बाद आत्यंतिक रूप से मृत्यु ही 'मनुष्य के पतन' का पर्याय बन गयी थी और उसके अस्तित्व-संकट के लिए अंतिम सीमा भी। *आत्मजयी* में मृत्यु-बोध या चिंतन, अनंत यात्रा के लिए एक पाथेय की तरह है। दूसरे शब्दों में, अस्तित्ववादी दर्शन 'मृत्यु' तक आकर पूर्ण-विराम लगा देता है जबकि भारतीय दर्शन की मूल चिंता वहाँ से आरम्भ ही होती है। इस प्रकार अस्तित्ववादी दर्शन की एकांगिकता के हवाले से भारतीय दर्शन की बहुआयामिता को चुनौती देना एक बौद्धिक दुस्साहस है जिसे हम समीक्षा-निबंध में यथास्थान देख सकते हैं।

III

कुँवर नारायण ने विविध कलाओं को संदर्भित करके भी कुछ कविताएँ लिखी हैं और उनके माध्यम से समकालीन सामाजिक-राजनीतिक सच्चाइयों को उजागर किया है। और, केवल कविताएँ ही नहीं लिखीं, कला पर मौलिक विचार भी किया है। इसलिए यदि उनकी कला-दृष्टि के आलोक में भी कविताओं को समझने का उपक्रम किया जाय तो उनके अध्ययन-मूल्यांकन में एक नया आयाम जुड़ सकता है। उनकी कविताओं की रचना-प्रक्रिया में विभिन्न कलाओं की समन्वित चेतना का निर्णायक योगदान रहा है। इस दृष्टि से उनके अंतिम संग्रह की कुछ उल्लेखनीय कविताएँ हैं 'पत्थर के प्राण',

'अंकोर वाट', 'ओरछा की एक हवेली में' और 'राग भटियाली'। इन कविताओं की ओर ध्यान दिलाने का एक मक़सद कला संबंधी उनके विचार और उनकी कविताओं में कलात्मक तत्त्वों की सर्जनात्मक उपयोगिता पर फ़ोकस करना भी है। यहाँ विस्तार से तो नहीं लेकिन समकालीन परिस्थितियों में कलाकार या रचनाकार के अस्तित्वगत परिदृश्य को रेखांकित करने वाली कुछ कविताओं की चर्चा अपेक्षित है।

'पत्थर के प्राण' कविता में एक मूर्तिकार के उदाहरण के माध्यम से कला और कलाकार के आपसी द्वंद्व को दिखाया गया है जिसमें मूर्ति की रचना-प्रक्रिया वस्तुतः कविता की रचना-प्रक्रिया का साक्ष्य बन जाती है। पत्थर पर चोट पड़ती है और 'आह' की आवाज़ निकलती है। उसकी 'आह' उसके प्राण को संकेतित करती है। यानी मूर्तिकार के लिए जैसे यह ज़रूरी है कि वह पत्थर के भीतर के जीवन-स्पंदन को सुने, वैसे ही कवि के लिए ज़रूरी है कि वह शब्दों के भीतर उनकी धड़कनों को महसूस कर सके। मूर्तिकार पत्थर में प्राण की तलाश करता है और इसी खोज में वह एक नयी मूर्ति बना डालता है। इस प्रक्रिया में घायल दोनों होते हैं—पत्थर और मूर्तिकार या शब्द और शब्दकार। घायल होने की पीड़ा के बीच से ही रचना का जन्म होता है। सम्भवतः इसी कोटि के क्लेश को कालिदास ने पुनर्नवता की उपलब्धि कहा है : 'क्लेश : फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते।' यानी रचना के बनने की पीड़ा एक नयी उपलब्धि में परिणत हो जाती है। कालिदास जिस प्रक्रिया को सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत करते हैं, कुँवर नारायण उसे फिर से व्यावहारिक प्रक्रिया के स्तर पर ले आते हैं।

'अंकोर वाट' कविता में कला और राजनीतिक यथार्थ को आमने-सामने रखा गया है। यह कविता *इन दिनों* संग्रह की 'खजुराहो' और 'हाशिये का गवाह' संग्रह की 'संदर्भ : गुएर्निका' जैसी कविताओं के अगले पड़ाव या अगली उपलब्धि का संकेत देती है और अपने अविशिष्ट कथ्य और संरचना के विश्लेषण के लिए अंतर्सांस्कृतिक अध्ययन की माँग करती है। लेकिन फ़िलहाल संक्षेप में यह बताना ज़रूरी है कि कम्पूचिया (कम्बोडिया) स्थित अंकोर वाट की संरचना में जैसे दो स्थापत्यों (मंदिर और वृक्ष की जड़ों) का सहमेल है, उसी तरह अपनी कविता में कुँवर नारायण जड़ों के शिल्प को बोधिसत्त्व से संबंधित साधना-पद्धतियों से जोड़ते हैं। जड़ों और शिलाओं का शिल्प एक ठोस बिम्ब के रूप में इन साधनाओं को परिभाषित करता है। यह कविता का एक पक्ष है जो उसे संस्कृति के व्यापक परिप्रेक्ष्य में लाकर खड़ा कर देता है। इसका एक दूसरा पहलू भी है जिसमें वह स्वयं ही इतिहास की क्रूरताओं के सामने जाकर खड़ी हो जाती है। और यहीं पर कविता खुल जाती है :

किसी पोल पोट के नृशंस यथार्थ के विरुद्ध
कलाओं का शांतिवन / रचता / महाकरुणा का अतियथार्थ

पोल पोट कम्पूचिया का तानाशाह शासक था। उसने कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति के मुख्य सचिव के रूप में अपना काम शुरू किया और बाद में वहाँ का प्रधानमंत्री भी बना। अपनी नृशंस नीतियों के कारण उसने 1975-1979 के बीच कम्पूचिया की लगभग दो लाख आबादी का विनाश कर दिया। नियत समय से अधिक कार्य, रोग, भुखमरी और फाँसी जैसी अमानवीय परिस्थितियों में मानवीय अस्तित्व की सामूहिक विनाश लीला के घिनौने यथार्थ के बरअक्स कवि मानवीय और प्राकृतिक कला के सहभाव को अतियथार्थ के रूप में प्रस्तुत करता है। यहाँ, बल्कि अन्यत्र भी, अदम्य मानवीय सर्जनेच्छा के प्रति कुँवर नारायण का यह दृढ़ विश्वास उभर कर सामने आता है कि ऐसी तमाम विनाश लीलाओं की आत्यंतिक, नारकीय परिस्थितियों के बावजूद भी जीवन के प्रति हमारे आशा-तंतुओं को सँभाल कर रखा जा सकता है। वास्तव में एक कवि की ओर से इससे बड़ा प्रतिरोध या प्रति उत्तर और क्या हो सकता है!

कुँवर नारायण संगीत के भी प्रेमी रहे हैं और संगीत के प्रति उनका यह लगाव महज़ 'एलीट इंटरटेंमेंट' नहीं है। वास्तव में उनकी कविता में कलाओं की उपस्थिति कविताओं के 'बाय-प्रोडक्ट'

या 'अनुरचना/उपरचना' के रूप में है। और सबसे बड़ी बात है कि कलाएँ उनके लिए जीवन के बहुत नज़दीक से गुज़रने वाली पटरियों की तरह हैं, जिन पर चलते हुए एक अलग तरह की समृद्ध यात्रा का आनंद लिया जा सकता है। संगीत में सबसे पहले वे जीवन की राग-रागिनियों की पहचान करते हैं और फिर कविता को संगीत की सिंफनी में ढाल कर प्रस्तुत करते हैं। इसलिए इस कोटि की उनकी कविताओं को एक जीवन-राग की तरह पढ़ना चाहिए। 'राग भटियाली' कविता के फ़ॉर्म और कंटेंट में भी यह बात है। लेकिन यहाँ हम जिस कविता की चर्चा करने जा रहे हैं उसमें संगीत का प्रसंग एक अकल्पनीय विडम्बना का प्रसंग बन जाता है। यह कविता है 'नीरो का संगीत-प्रेम'। *हाशिये का गवाह* में संकलित।

रोमन सम्राट नीरो के बारे में प्रसिद्ध था कि वह बेला बजाता था और अपने को बेजोड़ बेलाकार समझता था। एक दिन उसके सिपाहियों ने देश के एक बड़े गायक को पकड़ कर उसके सामने पेश किया। वह इतना भयभीत था कि उसके सामने गा ही न सका। सिपाहियों ने जब उसे यंत्रणा देनी शुरू की तो वह चीख उठा। सम्राट को उसका चीखना सुरीला लगा क्योंकि अपनी बेला पर अब तक वह ऐसा एक भी आर्तनाद नहीं निकाल पाया था। कविता और आगे जाती है। सम्राट के दैनिक मनोरंजन के लिए उसे क़ैद में रखा जाता है। अंत में कुँवर नारायण का काव्यावलोकन है कि 'कला और दर्द के बीच रिश्ते को / समझने का / नीरो का यह अपना तरीक़ा था!' हमारे समय के सजग कवि राजेश जोशी ने जब इस कविता को पहली बार पढ़ा तो उन्हें 'यह एक विचलित कर देने वाली कविता लगी।' उन्होंने टिप्पणी की कि 'एक कला वह है जिसने अपनी श्रेष्ठता को स्वयं घोषित कर रखा है जबकि दूसरी कला वह है जो लोगों द्वारा स्वीकृति प्राप्त कर चुकी है।' उन्होंने नीरो के सुख को 'परपीड़ा से उपजा सुख' कहा। हमारा प्रेक्षण राजेश जोशी से थोड़ा-सा अलग है। हम इसे ऐसे देखते हैं कि एक कला मुक्त करती है और एक कला बाँधती है। 'परपीड़ा से उपजा सुख' वास्तव में 'दूसरों को बाँध कर रखने के अधिकार' से उपजा हुआ सुख है। ऐसा लगता है कि इस कविता का वर्तमान भारतीय परिदृश्य पर हू-ब-हू मंचन किया जा रहा है और इस मंचन को देखने वाले बाक़ी कलाकारों और रचनाकारों का अस्तित्व ख़तरे में है। दोनों कविताओं के बीच का मौलिक अंतर आज की विडम्बना पर से पर्दा उठाता हुआ लग रहा है। राग भटियाली शेष स्वरों को बाँधता नहीं, इसलिए अंत में भी उनसे बँधता नहीं। जबकि हमारे इस नाजुक समय में राग नीरो ने शेष स्वरों को बेरहमी से बाँध कर रखा है और अंत तक उनके बंधनों से वेपरवाह बना रहता है। कवि आज के बँधे हुए स्वरों से स्वर मिलाकर बोल रहा है। यह कविता इन सबके साथ है और नीरो ऐसी तमाम कविताओं से बेख़बर है। आज भारत में भी कहीं राग नीरो बज रहा है और बहुत तेज़ बज रहा है। संगीन की नोकों पर गायकों को जबरन गवाया जा रहा है। पीड़ा के स्वर जैसे-जैसे बढ़ रहे हैं, वैसे-वैसे नीरो का आनंद द्विगुणित होता जाता है। और चरम आनंद के क्षणों में कौन मौन नहीं रहता! राग नीरो एक प्रतीक बन कर उभरता है। एक ऐसी रक्त-पिपासु दानवी

कुँवर नारायण की ऐसी कविताएँ केवल तात्कालिक ध्यानाकर्षण के लिए ही नहीं होतीं, बल्कि उससे बहुत आगे जाकर 'सामयिक' और 'दैशिक' के सायुज्य में विकसित हो जाती हैं, जो किसी भी समय के अनुकूल मानी ग्रहण कर सकती हैं। इस अर्थ में वे उन कवियों से एकदम अलग हैं जो घटनाओं पर फ़ौरी प्रतिक्रियाओं के रूप में कविताएँ लिखा करते हैं। एक कवि के रूप में कुँवर नारायण में पूर्व-आभास या पूर्व-कल्पना की दुर्लभ, अप्रत्याशित और कल्पनातीत क्षमता है।

आत्मा के रूप में, जो आज अपने ही एक समानधर्मा की काया में पैबस्त हो चुका है। *कुमारजीव* में बिल्कुल ऐसा ही एक प्रसंग है। ऐसा लगता है कि कवि ने उस दानवी आत्मा की पदचापों को बहुत पहले ही महसूस कर लिया था :

सम्राट के आतंक से घबरा कर / लोगों ने बहुत धीमे बोलना सीख लिया है
कभी–कभी तो इतना धीमे बोलते हैं / मानो वह भाषा में नहीं
केवल आहों और हिचकियों में बोल रहे हों

यदि 'नीरो का संगीत–प्रेम' कविता को *कुमारजीव* के इन अंशों के साथ मिला कर पढ़ा जाए तो लगेगा कि हम भारतीय राजनीति–शास्त्र का कोई पाठ्यक्रम पढ़ रहे हैं जिसकी इसी सत्र में शुरुआत की गयी है। इस पाठ्यक्रम को कविता में 'रीराइट' करते हुए कुँवर नारायण राजनीति की छद्म नैतिकता के रेशे–रेशे को उघाड़ देते हैं। जहाँ–जहाँ राजनीति बहुत लम्बे समय तक मौन साधे रहती है वहाँ–वहाँ कुँवर नारायण की कविता बेहद मुखर हो जाती है। यूँ कला के संदर्भ वाली कुँवर नारायण की ऐसी कविताएँ सामयिक राजनीति की भाष्य करती हुई कविताएँ हैं।

कुँवर नारायण इसी तरह कविता में इतिहास और राजनीति की विडम्बनाओं की पूर्व–रचना करते हैं। उन्हें रचना पड़ता है, क्योंकि इतिहास और राजनीति के प्रति वे एक रचनाकार की नैतिक ज़िम्मेदारी को बड़ी शिद्दत से महसूस करते हैं। 'नीरो का संगीत–प्रेम' कलाकार के बंधन की विडम्बनाओं की कविता है, 'राग भटियाली' कलाकार या संगीतकार की उन्मुक्ति की कविता है जहाँ 'उन्मुक्ति' कोई दार्शनिक चीज़ नहीं, बल्कि रचनात्मक अनुभव की चरम ऊँचाई का साक्षात्कार है। कुँवर नारायण राग को शब्द देते हुए कविता में संगीत का प्रभाव पैदा करते हैं। स्थापत्य को शब्द देते हुए ('अंकोर वाट') उसके सौंदर्य का प्रभाव पैदा करते हैं। 'पत्थर के प्राण', अंकोर वाट' और 'राग भटियाली' कविताओं में हम देखते हैं कि कवि एक कुशल शिल्पी, स्थपति या गायक की भूमिकाओं को बख़ूबी निबाहता है। ये तीनों बहुत ही ऊँचे पाए की कविताएँ हैं। क्योंकि उनकी कला–चेतना अनिवार्यत: जीवन के मामलों से जुड़ी है, जीवन को जीने और बरतने के ढंगों से जुड़ी है। दूर–दूर तक विलास की कोई गंध उनमें नहीं है।

इतने ऊँचे दर्जे की कविताओं में भाषा कितनी सरल है! 'राग भटियाली' की भाषा तो एकदम 'सहज' के स्तर तक आ जाती है, उसी 'सहजता' के स्तर तक जो इस कविता में आये बाउलों की बुनियादी विशेषता रही है। नीरो वाली कविता के संदर्भ में राजेश जोशी इसी सहजता को भाषा के हवाले से रेखांकित करते हैं : 'क्रूर और त्रासद प्रसंगों में कुँवर नारायण अपनी भाषा के तापक्रम को लगता है और कम कर देते हैं जिससे स्थिति की क्रूरता और भयावहता को हम उसके नग्नतम रूप में महसूस कर सकें। बयान के बीच कवि का हस्तक्षेप कम हो जाता है।' एक पाठक के रूप में हम इस टिप्पणी से सहमत हो सकते हैं क्योंकि 'कंटेंट' में अलग होते हुए भी 'राग भटियाली' कविता में भाषा का तापक्रम उतना ही कम है। वह इतनी पिघली हुई है कि 'सहजता' के स्तर तक आ गयी है। और यह सरलता या सहजता यों ही नहीं है, यह बहुत ऊँची साधना माँगती है क्योंकि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पहले ही कह गये हैं कि सीधी रेखा खींचना बेहद कठिन कार्य है!

सब इतना असमाप्त में एक और महत्त्वपूर्ण कविता है 'जब वह नहीं रहता'। यह कविता एक विचारशील मनुष्य की हत्या के बारे में है। इस कविता को किसी ईसा, किसी गाँधी, किसी सोल्झेनित्सिन या किसी कलबुर्गी के जीवन से जोड़कर देखने पर अलग से कोई टिप्पणी करने की ज़रूरत ही नहीं है। इतना ही नहीं, इसे किसी भी संवेदनशील व्यक्ति के जीवन की त्रासद बिडम्बना से जोड़कर देखना चाहिए। इसे रघुवीर सहाय की कविता के रामदास जैसे आदमी से भी जोड़कर पढ़ सकते हैं। कुँवर नारायण की ऐसी बहुत–सी कविताएँ हैं जो ऐतिहासिक चरित्रों और कवि–व्यक्तित्वों पर केंद्रित हैं। लेकिन उन सबको पढ़ते हुए भी यदि यह ध्यान में रखा जाय कि अंतत: वे सभी मनुष्य हैं और अपने–

अपने समय को उन्होंने यथासम्भव जीने की भी कोशिश की है, तो उनके अभिप्रायों को बिल्कुल सही संदर्भों में ग्रहण किया जा सकेगा। यह कविता एक बार फिर वर्तमान भारतीय परिस्थितियों से सीधे जुड़ती है, जैसा कि हमने 'नीरो का संगीत-प्रेम' के प्रसंग में भी देखा है। कविता की पंक्तियाँ बहुत देर तक 'हांट' करती हैं, विचलित कर देती हैं। यहाँ सहज ही एक प्रश्न उठता है। यदि इन सबके विचारों का भी कोई जीवन है तो क्या अंततः किसी ईसा, किसी गाँधी, किसी सोल्झेनित्सिन, किसी कलबुर्गी या किसी रामदास की हत्या करके उनकी उपस्थिति को हमेशा के लिए मिटाया जा सकता है? हाल के भारतीय परिवेश में कवि और साहित्यकार जिन त्रासद स्थितियों का सामना करते आ रहे हैं; अख़बारों में बयान देकर और पुरस्कारों को लौटा कर ऐसी तमाम नृशंसताओं के प्रति अपना विरोध दर्ज करा रहे हैं, उससे तो यही लगता है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अभियान को अभी और बहुत आगे ले जाने की ज़रूरत है। और यह सब एक रचनात्मक तरीक़े से होना चाहिए जिसमें किसी भी तरह की हिंसा की कोई गुंजाइश न हो। स्वयं कुँवर नारायण भी हिंसा को अमान्य ठहराते हुए कहते हैं कि 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर पड़ने वाले नकारात्मक दबाव निंदनीय हैं।' लेकिन यह कविता अधिक कहती है, विरोध दर्ज कराने वाले किसी बयान से भी बहुत-बहुत अधिक :

क्या हत्या करने वाले / नहीं जानते
कि एक शरीर में हो सकता है इतना भी रक्त
कि वह सदियों तक बहता रहे, / इतनी सहनशीलता कि उसमें
डूब जाएँ रक्त की नदियाँ!

बात केवल इतनी ही नहीं है कि यह कविता वर्तमान भारतीय परिस्थितियों की आलोचना प्रस्तुत करती है। यह कविता हमारे समय की घटनाओं से कुछ पहले ही लिखी गयी है। दूसरे शब्दों में, लिखी पहले गयी है और घटित हो रही है आज। एक अर्थ में कहें तो कुँवर नारायण समय की नब्ज़ को लगभग एक दूरदर्शी-कालदर्शी की तरह पकड़ते हैं और उसकी आहटों को अपने क़रीब पहुँचने से बहुत पहले ही महसूस कर लेते हैं। तकनीक की दृष्टि से कहा जा सकता है कि यह 'फ़्लैश-बैक' की जगह 'फ़्लैश-फ़ारवर्ड' में लिखी गयी बेहद सधी हुई कविता है। इसलिए कुँवर नारायण की ऐसी कविताएँ केवल तात्कालिक ध्यानाकर्षण के लिए ही नहीं होतीं, बल्कि उससे बहुत आगे जाकर 'सामयिक' और 'दैशिक' के सायुज्य में विकसित हो जाती हैं, जो किसी भी समय के अनुकूल मानी ग्रहण कर सकती हैं। इस अर्थ में वे उन कवियों से एकदम अलग हैं जो घटनाओं पर फ़ौरी प्रतिक्रियाओं के रूप में कविताएँ लिखा करते हैं। एक कवि के रूप में कुँवर नारायण में पूर्व-आभास या पूर्व-कल्पना की दुर्लभ, अप्रत्याशित और कल्पनातीत क्षमता है।

अपने एक निबंध '*आत्मजयी* तथा मेरी अन्य कविताएँ' में वे अपनी ऐसी ही कुछ कविताओं के (जो उन्होंने आपातकाल के पहले ही लिखी थी लेकिन उनका कथ्य आपातकाल के दौरान घटित हो रहा था) रचना-प्रसंग की बात करते हैं और बतलाते हैं कि वे कविताएँ संबंधित घटना के घटित होने के दौरान नहीं, 'बल्कि उससे कुछ पहले ही लिखी गयी थीं— कुछ ऐसी आशंका के साथ कि किसी भी समय इस तरह की कोई घटना हो सकती है। मैं सोचता हूँ कि मानसिक क्षितिज का क्रमशः विकास होता है। जब यह समय के एक विस्तृत मानक पर काम करता है तो मनुष्य की प्रकृति के बारे में अलग से एक प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है।' उनका समय-बोध बहुत तीव्र और अग्रगामी रहा है। समय के प्रचलित तीनों आयामों को वे एक सायुज्य की स्थिति में परिकल्पित करते हैं। इसलिए वे तुरंत जोड़ते हैं, 'मेरा अभिप्राय अतीत और वर्तमान को अलग-थलग विभाजित सत्ताओं के रूप में नहीं, बल्कि एक अखण्डता में देखने से है।' फ़िलहाल यहाँ कुँवर नारायण की कविताओं के कथ्य और उनके वक्तव्य पर बराबर ध्यान रखते हुए हम कह सकते हैं कि कला-कलाकार या रचना-रचनाकार के संदर्भ वाली ये कविताएँ कवि के कला-बोध के साथ-साथ उनके काल-बोध की भी एक संकल्पना हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं।

VI

एक बार पुन: कवि कुँवर नारायण से व्यक्ति कुँवर नारायण की ओर मुड़ते हुए कुछ महत्त्वपूर्ण बातों की ओर ध्यान जाता है। नयी पीढ़ी के बहुत-से युवा रचनाकारों के पास उनसे जुड़े कई रोचक संस्मरण और प्रेरक अनुभव हैं लेकिन युवाओं से उनकी आत्मीयता के महत्त्वपूर्ण प्रमाण हैं *कुमारजीव* के बाद प्रकाशित उनकी दो पुस्तकें। ये दो पुस्तकें विश्व कविताओं के अनुवाद और सिनेमा पर केंद्रित हैं। *न सीमाएँ न दूरियाँ* उन्होंने 'हिंदी कविता की नयी पीढ़ी को समर्पित' किया है। *लेखक का सिनेमा* का समर्पण लिखा है, 'बढ़ती हुई व्यावसायिकता और स्पर्धा से जो अभी भी बचे हुए हैं उनको समर्पित।'

कुँवर नारायण की कृतियों में, शुरू से ही देखें तो, आपको समर्पण नहीं मिलेगा। एक-दो अपवाद ज़रूर हैं। ऐसे में यह सोचना लाज़िमी है कि क्या कारण रहा कि अपनी अंतिम पुस्तकें वे युवा पीढ़ी को समर्पित कर रहे हैं। जीवन के अंतिम समय में वे सीधे-सीधे नयी पीढ़ी को सम्बोधित कर रहे हैं। जो उन्हें नज़दीक से जानते हैं उन्हें मालूम है कि निजी जीवन में भी वे युवाओं को काफ़ी तवज्जो देते रहे हैं, बराबरी के स्तर पर जाकर उनसे संवाद करते रहे हैं। इस रूप में वे उन विरल साहित्यकारों में हैं जिनकी कथनी और करनी में, सिद्धांत और व्यवहार में कभी कोई फाँक नहीं दिखता। उनका आचरण-व्यवहार हमेशा उनके विचार और सिद्धांत को प्रमाणित करता रहा है। नयी पीढ़ी के लिए उनके यहाँ हमेशा एक खुलापन या स्वीकार का भाव है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने जिसे 'आकाशधर्मिता' कहा है, वह है। यदि आप उनके सान्निध्य में हैं तो वे हमेशा आपको खिलने-खुलने के लिए पूरा अवसर देते। *आत्मजयी* में उन्होंने युवा मानस के लिए इसे विशेष रूप से रेखांकित किया है : 'तुझमें स्रष्टा की आकुलता / उसको एक आकाश चाहिए / तुझमें अब कृतित्व का कारण / उसको नया विकास चाहिए।' *आत्मजयी* के पचास साल बाद *कुमारजीव* में भी लिखते हैं : 'मुझे दो वसंत : फूलूँगा / मुझे दो वर्षा : भीगूँगा / मुझे दो शिशिर : काँपूँगा / मुझे दो ग्रीष्म : तापूँगा'। आरम्भ से लेकर अंत तक कुँवर नारायण में नयी पीढ़ी में निहित आधुनिक भाव-बोध, तर्क-पद्धति और नयी जीवन-दृष्टि के स्वीकार के प्रति एक उत्सुक और उत्कट भाव रहा है।

इन्हीं कुछ दुर्लभ गुणों के कारण उनके सान्निध्य में देवत्व की उपस्थिति का बोध होता। वहाँ जाने वाला कोई भी आदमी पहले से बड़ा होकर ही लौटता। लघुता छीजती जाती, भीतर का निहित स्वार्थ गलता जाता। जड़ता थोड़ी-सी पिघल जाती, आत्मा कुछ और तृप्त हो जाती। वे कलकल बहती हुई एक नदी की तरह थे जहाँ हर अगली बार जाने पर एक नया पानी मिलता। नयी जलधारा और नया प्राण! वह धीरे-धीरे हमारे भीतर संचारित होता। कुँवरजी से पहली बार मिलने पर संजीवनी मिली और प्रत्येक अगली बार मिलने पर पुनर्नवा।

कुँवर नारायण ने एक रचनाकार के रूप में समकाल और पुराकाल को, इतिहास और कल्पना को, निजता और सामाजिकता को, राजनीति और दर्शन को, मानवीयता और नैतिकता के मूल्यों को जोड़ते हुए उन्हें अपना काव्य-मूल्य बनाया। व्यक्तिगत जीवन में भी वे एक बहुपठित और सभ्य-सुसंस्कृत नागरिक थे। साहित्य और कविता के अलावा विभिन्न कलाओं के पारखी रसिक थे, शालीन और उदारमना सज्जन थे, बेहद संवेदनशील पारिवारिक और सामाजिक मनुष्य थे। यों उनका व्यक्ति और कवि-रूप जीवन की कई विधाओं का एक सतरंगी इंद्रधनुषी था।

आज वह सतरंगी इंद्रधनुष समय की अनंत-यात्रा में कहीं लुप्त-सा हो गया है, लेकिन ढूँढने वालों को उनकी रचना-यात्रा में बिजली की कौंध-सा वह दिखलाई पड़ सकता है। इसलिए कुँवर नारायण को उनकी समय-यात्रा के साथ-साथ उनकी रचना-यात्रा में भी ढूँढ़ना चाहिए। यह उनके अवसान के बाद उनकी उपस्थिति के आकलन का एक संतुलित उपक्रम भी हो सकता है।